

बच्चे और {कु}पोषण

कुछ पहलू

राजनैतिक व्यवस्था का चरित्र है कमजोर और अनुपयोगी की उपेक्षा करना (जैसे बच्चे न तो सरकारें बनाते हैं ना बिगाड़ते हैं और जो वोट देकर सरकारें बनाने की यह ताकत रखते हैं उनकी नज़र में बच्चे पूरी इंसानी इकाई नहीं हैंए बल्कि अधूरी इकाई हैं।) और मौजूदा अर्थव्यवस्था का मतलब है हर उस व्यक्ति की उपेक्षा करना जिसे अनुत्पादकता की श्रेणी में धकेल दिया जा रहा है। हमारी अर्थनीति अभी भी मानती है कि बच्चों पर खर्चा क्यों किया जाए उनसे वृद्धि दर थोड़े बढ़ेगी, इससे अच्छा है कि सार्वजनिक संसाधनों से जंगल, जमीन, पहाड़, पानी का बाज़ार सजा दो, इससे व्यापार होते दिखेगा और लगेगा कि हमारे पास खूब पैसा आ रहा है। अब जो थोडा बहुत हो भी रहा है उसमें यह वाक्य भी जरूर आ जाता है - बच्चों के बारे में हमें प्रयास करने हैं,

क्योंकि वे देश के भविष्य हैं, क्योंकि वे कल के नागरिक हैं। सवाल यह है कि क्या वे वर्तमान नहीं हैं, क्या वे आज नागरिक नहीं हैं!! हमारे यहां राजनैतिक सन्दर्भ में नागरिक की परिभाषा है जो वोट दे और आर्थिक नज़रिए से इसका मतलब है जो मजदूरी, नौकरी या व्यापार करे वह नागरिक है। बस यहीं बच्चे नीतियों के पटल से मिटा दिए जाते हैं। राजनीति और आर्थिक व्यवस्था का यह चरित्र बच्चों को समाज में हाशिये पर धकेलता रहा है।

जब तक बच्चों में भूख, पोषण और गरीबी के संकट को नही मिटाया जायेगा, तब तक देश-समाज में कुपोषण, भुखमरी और असमानता को मिटाना असंभव होगा। ऐसे में विकास और परिवर्तन के विचार और कार्यक्रमों को बाल केन्द्रित करना ही एकमात्र रास्ता है।

आधा पेट, पूरा जीवन, शोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!

सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों के मुताबिक हमने (हमारे राज्य और समाज ने) यह तय किया है कि वर्ष 2015 तक हमें गरीबी को आधा करना है और भुखमरी को मिटाना है, पर राज्य जब गरीबी और भुखमरी की परिभाषाएं तय करता है तब बच्चों की भूख और गरीबी को थोड़ा पीछे धकेल कर आगे बढ़ने की कोशिश होती है। प्रोफेसर उत्सा पटनायक के मुताबिक 76 फीसदी लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता है, अर्जुनसेन गुप्ता का कहना है कि 83 करोड़ लोग 20 रूपए या इससे भी कम पर जीवन जीते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि गरीबी और भूख के इस विश्लेषण में बच्चे कहां हैं? दुनिया में बच्चों के लिये राज्य प्रवर्तित दो सबसे बड़े खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम आंगनवाड़ी और मध्याह्न भोजन योजना का भारत में ही क्रियान्वयन हो रहा है, पर गैर जवाबदेहिता, भ्रष्टाचार, लापरवाही, सामाजिक बहिष्कार, और बच्चों के सवालों को दायम दर्जे का मुद्दा मानने की प्रवृत्ति के कारण देश में बच्चों की खाद्य असुरक्षा का संकट गहराता गया है। महज 4 रूपये प्रति बच्चा प्रतिदिन जितने कम आवंटन, गुणवत्ता की कमी और समग्र नजरिये के अभाव के कारण एकीकृत बाल विकास परियोजना जैसा व्यापक कार्यक्रम 35 सालों में कुपोषण की चुनौती का सामना नहीं कर पाया। एक तरफ विकास होता गया, दूसरा तरफ भुखमरी बढ़ती गई। जब तक बच्चों में भूख, पोषण और गरीबी के संकट को नहीं मिटाया जायेगा, तब तक देश-समाज में कुपोषण, भुखमरी और असमानता को मिटाना असंभव होगा। ऐसे में विकास और परिवर्तन के विचार और कार्यक्रमों को बाल केन्द्रित करना ही एकमात्र रास्ता है।

हम बच्चों के सवालों को यदि नज़र अंदाज़ कर रहे हैं तो इसका मतलब है कि हम सामाजिक बदलाव की संभावना को कमज़ोर और इसकी गति को धीमा कर रहे हैं। यदि आज उनके विकास, विचार और जीवन के संरक्षण को हम उस नज़रिए से दिशा दे पाए, जैसा समाज हम बनाना चाहते हैं, तो कम से कम बच्चे समाज में पसरे हुए शोषण, भेदभाव और टकराव की राजनीति को चुनौती देकर मानवीय मूल्यों और अधिकारों की पुनर्स्थापना कर सकते हैं।

लेकिन मौजूदा भुखमरी का माहौल और परिस्थितियां उन्हें इतना कमज़ोर और लाचार बना रही हैं कि न तो वे स्वस्थ इंसान बन पायेंगे, न ही एक आत्मनिर्भर नागरिक, राजनीति और आर्थिक व्यवस्था में उन्हें हमेशा गरीबी और उपेक्षा के साथ जीने के लिए मजबूर किया जाता रहेगा। वे कभी उस शिक्षा व्यवस्था और पाठ्यक्रम पर सवाल नहीं कर पायेंगे जो कई स्तरों पर अवैज्ञानिक, साम्प्रदायिक, जातिवादी और वर्गवादी व्यवस्था की जड़ों को मज़बूत करता है। मजदूरी या निर्माण कार्यों में जो लक्ष्य उनके लिए तय किये जायेंगे, उन्हें पूरा करने की क्षमता उनमें नहीं होगी और हमेशा उन्हें आधी मजदूरी मिलेगी।

वास्तव में आज हमारे सामने बच्चों को जिन्दा रखने की चुनौती है। देश की आधी महिलायें खून की कमी की शिकार हैं और उन्हें गरीबी और भेदभाव के कारण पोषण का हक नहीं मिल रहा है, महिलाओं की यह स्थिति उनके अपने जीवन के लिए संकट तो है ही साथ ही उनके गर्भ में पनप रहे जीवन के लिए भी उतना ही बड़ा संकट होता है। पोषण और स्वास्थ्य के अधिकार के अभाव में उनके जीवन पर अनिश्चितता के घने बादल छाए रहते हैं। यह एक पीड़ा देने वाला तथ्य है कि हर साल देश में 77 हजार महिलाओं की प्रसव या उससे जुड़े कारणों से मृत्यु हो जाती है। इस मसले पर किये गए एक अध्ययन से पता चला कि मातृत्व मृत्यु की स्थिति में 80 फीसदी नवजात बच्चों या शिशुओं की भी मृत्यु हो जाती है। कुपोषण का मतलब है उर्जाविहीन जीवन।

पोषण का सवाल इस बात से सीधे जुड़ा हुआ है कि बच्चा जन्म ले पायेगा या नहीं, और यदि वह जन्म ले लेता है तो उसे स्वस्थ और सम्मानजनक जीवन का अधिकार मिलेगा या नहीं। यूं तो बच्चों के परिभाषा के तहत समाज का वह तबका आता है जिसकी उम्र 18 वर्ष से कम है परन्तु इस आयु वर्ग में होने वाली कुल मौतों में से 85 से 90 फीसदी 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के होती हैं। जिनका सबसे बड़ा कारण पोषण की कमी, स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित होना, सामाजिक-व्यवस्थागत भेदभाव के फलस्वरूप पनपने वाली बीमारियां; डायरिया, मलेरिया, खसरा, निमोनिया, और कुछ खास संक्रमण) है। यह बच्चों के जीवन के

आधा पेट, पूरा जीवन, शोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को !!

अधिकार का सबसे बुनियादी सवाल है, जिसके लिए वे समाज और राज्य पर निर्भर हैं। यदि वे जिन्दा रह पाए तो ही स्कूल जा पायेंगे और फिर दूसरा सवाल है कि उनका जीवन सम्मानजनक और गरिमामय होगा या नहीं, शारीरिक-मानसिक विकलांगता हमेशा से बच्चों के जीवन लिए चुनौती बनते रहे हैं। पोषण का संकट विकलांगता के चक्र को जन्म देता है। मौजूदा समय में ध्यान इस प्राथमिकता पर केंद्रित है कि विकलांग बच्चों का बेहतर पुर्नवास कैसे हो या उनके अधिकार कैसे सुनिश्चित हों! पर यदि हमें विकलांगता के चक्र को शुरू होने से रोकना है तो परिवार में महिलाओं की पोषण सुरक्षा के जतन करना होंगे और बच्चों की खास जरूरतों को पहचान कर पोषण सुरक्षा का वातावरण तैयार करना होगा।

बच्चों के पोषण और खाद्य सुरक्षा के हक को नजरअंदाज करने का मतलब है पूरे जीवन के लिये अक्षमता का बीज बोना, विकास का अधिकार छीना जाना और व्यक्ति को कभी न पूरा होने वाले सपने के साथ जीने के लिये छोड़ देना। कुपोषण की स्थिति बच्चों से एकाग्र होकर कुछ सीखने और विश्लेषण कर पाने की क्षमता छीन लेती है। वे एक से तीन साल की देरी से स्कूल पहुंचते हैं। स्कूलों में दाखिल होने के बाद भी वे कमजोर होने के कारण सीखने में पिछड़ते जाते हैं। प्रतिस्पर्धा के मौजूदा दौर में वे तेजी से आगे बढ़ते समाज में पिछड़ते जाते हैं और होते जाते हैं बहिष्कृत। अब चूंकि दलित, आदिवासी और शहरी झुग्गी बस्तियों में भुखमरी का स्तर औसत से ज्यादा और गंभीर है इसलिये वे ही कुपोषण के कारण शिक्षा से वंचित होते जाते हैं परन्तु उन पर आक्षेप यह लगता है कि ये समुदाय या जातियां बच्चों को शिक्षित ही नहीं बनाना चाहती हैं। कई अध्ययनों के मुताबिक सरकारी योजनाओं में जातिगत और लैंगिक भेदभाव नें समाज के सबसे वंचित तबकों के बच्चों को और ज्यादा हाशिये पर धकेला है।

इसी तरह बचपन की भुखमरी बच्चों में शारीरिक विकास की संभावनाओं को इतना कम कर देती है कि वे पहले खेलों में पिछड़ते हैं और बाद में आजीविका के संघर्ष में हारी हुई बाजी लड़ते हैं। भारत में एक दिन की मजदूरी तय करते समय यह मापा जाता है कि एक स्वस्थ-पोषित व्यक्ति सात घंटे में कितना श्रम कर सकता है, श्रम और कार्य की वह मात्रा एक दिन की मजदूरी के भुगतान का आधार बन जाती है; परन्तु हमारे देश के आधे बच्चे कुपोषण के कारण उन क्षमताओं को खो चुके होते हैं परन्तु उनके वयस्क होने पर अपेक्षा की जाती है कि वे उतना ही श्रम करेंगे, जितना एक स्वस्थ व्यक्ति करता है। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता है और यह कहा जाने लगता है कि आदिवासी व्यक्ति आलसी होते हैं और सरकार द्वारा तय लक्ष्य को पूरा नहीं करते हैं इसलिये उन्हें पूरी मजदूरी नहीं मिलती है। एक बार फिर उन्हें हाशिये पर धकेला जाता है और एक नई आर्थिक-जातिगत पहचान दे दी जाती है। आज हम संसाधनों पर हक पाने के लिये अपनी ही सरकार से भी संघर्ष कर रहे हैं। और पूंजीवादी ताकतों से भी। भूख के साथ जी रहे आज के बच्चे क्या संसाधनों पर अपने हक का भार भी वहन कर पायेंगे। और यदि उन्हें हक नहीं मिला तो क्या वे उसके लिये संघर्ष भी कर पायेंगे। क्या यह शंका गैर-वाजिब है कि बच्चों को भूखा और कुपोषित रखकर एक गुलाम और कमजोर समाज की नींव रखी जा रही है!!

आदिवासी और गैर-आदिवासी समाज के बच्चों में अब कुपोषण के स्तर में 18 से 25 प्रतिशत का अंतर है यानी आदिवासियों में ज्यादा कुपोषण पाया जा रहा है। जो कभी सबसे सुरक्षित रहे, अब वे भूख के साथ जी रहे हैं क्योंकि उनसे जंगल और प्राकृतिक संसाधनों पर से अधिकार छीन लिए गए हैं। मतलब साफ है कि यदि आदिवासी बच्चों के कुपोषण और भुखमरी के जाल से बाहर लाना है तो उनके वन अधिकार को वास्तविक मान्यता देना होगी, वहां से विस्थापन बंद करना होगा, और इन संसाधनों को तहस नहस करने वाले विकास को रोकना होगा, तभी उन्हें पोषण की सुरक्षा मिल पाएगी।

बच्चों की खाद्य सुरक्षा का सवाल इसलिए महत्वपूर्ण है ताकि उनकी मांओं को जीवन के सबसे पहले सबक के रूप में बच्चों को भूख के साथ जीने की तकनीकें न सिखाना पड़ें। बच्चों की भुखमरी समाज में एक ऐसा वर्ग खड़ा करती है, जो कमजोर और अनुत्पादक माना जाकर मुख्यधारा से बाहर कर दिया जाता है। उसके विकास की जरूरत को नकार दिया जाता है, और यह माना जाने लगता है कि इन्हें तो केवल सेवा या समर्थक की भूमिका ही तो निभाना है, जिसके लिए आधे पेट खाना ही मिलना चाहिए। आज का विकास

आधा पेट, पूरा जीवन, पोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!

व्यक्तिगत कौशल और क्षमताओं की बुनियाद पर खड़ा है, यही आगे बढ़ने की शर्त भी है। परन्तु कुपोषण का जाल बच्चों को इस विकास में कहीं टिकने नहीं देगा।

हमारा समाज भूख की अभिव्यक्ति के लिये भाषा चाहता है पर वह बच्चों की भाषा को समझता ही नहीं है। वे आंखों से बोलते हैं, हाथ-पैर लहराकर मांग करते हैं, फिर रोते हैं, जो भूख के साथ होते हैं वे न आंखों से बोलते हैं, न हाथ-पैर लहराकर मांग कर पाते हैं, शून्य हो जाती हैं उनकी आंखें। वे मर कर बता जाते हैं कि उनकी भाषा हम समझ ही नहीं पाये।

पिछले 35 वर्षों से भारत के 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को हर रोज 500 से 1000 कैलोरी भोजन कम मिल रहा है यानी वे हर दिन भूख के साथ गुजार रहे हैं, परन्तु हमारे राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम (एकीकृत बाल विकास परियोजना) में उनके लिये महज 300 कैलोरी के पूरक पोषण आहार का ही प्रावधान किया गया है। ऐसा क्यों है कि देश के विकास की नीति बनाने वाले बच्चों के भोजन की जरूरत को मापने में इतनी बड़ी चूक कर गए। यह एक राजकीय अन्याय है, इसके लिये राज्य और समाज दोनों को अपने अपराध को स्वीकार करना होगा।

हम सरकार के भीतर बच्चों के जीवन के अधिकार के लिए परस्पर समन्वय और व्यापक नज़रिए के लिए वकालत करते रहे हैं, परन्तु क्या मौजूदा विकास की बहसों या संघर्षों में बच्चों के पोषण और खाद्य सुरक्षा के साथ जोड़ कर देख पायें हैं? विस्थापन की शिकार आबादी में 44 फीसदी की उम्र 18 वर्ष से कम और 16 फीसदी की उम्र 6 वर्ष से कम होती है। विस्थापन के कारण होने वाले अधिकारों के हनन की मार सबसे पहले बच्चों पर पड़ती है, वे तो अपने ऊपर हुए भावनात्मक आघात को व्यक्त भी नहीं कर पाते हैं। यह विस्थापन उनसे अपनी सांस्कृतिक पहचान तो छीन ही ले रहा है, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जीवनशैली से भी वंचितकर दे रहा है। अब वे अपने जंगल, पहाड़, कंदमूल, औषधियों और पर्यावरण के बारे में नहीं जान पाते हैं। विस्थापन से प्रभावित बच्चों में कुपोषण और मृत्यु दर भी तुलनात्मक रूप से बढ़ी हुई पायी जाती है। अब तक यह माना जाता है कि देश में विस्थापित होने वाले कुल व्यक्तियों की संख्या 6 करोड़ से ज्यादा है, इसका मतलब यह है कि इनमे से लगभग 1 करोड़ की उम्र 6 वर्ष से कम और ढाई करोड़ की उम्र 18 वर्ष से कम रही है। विकास के लिए इन बच्चों की कुछ ख़ास जरूरतें होती हैं, सवाल यह कि क्या उनकी जरूरतों का ख्याल रखा गया? बदहाली के कारण बढ़ रहा पलायन उनके जीवन में चुनाव का कोई विकल्प ही नहीं छोड़ रहा है। अब बदहाली इतनी ज्यादा है कि परिवार 2 से 3 माह के बच्चों के लेकर पलायन पर निकलने को मजबूर हैं, जहां न तो कोई संरक्षण है, न स्वास्थ्य की कोई सेवा और खाद्य सुरक्षा तो जैसे उन ठेकेदारों पर निर्भर है, जो महिला मजदूरों को अपने बच्चों को दूध पिलाने के काम को समय की बर्बादी मान कर उन्हें बैठने नहीं देते हैं। वहीं पत्थरों और कांक्रीट के बीच यह भूखा बचपन पनपता है।

इसी तरह जन्म के समय कम वजन जीवन भर की अस्वस्थता का बड़ा कारण होता है। गर्भावस्था के समय उचित आहार न मिलने और घरेलू हिंसा की शिकार होने के कारण महिलाओं के साथ-साथ बच्चों की स्थिति भी खराब हो रही है। स्त्री के प्रति घरेलू हिंसा के कारण बच्चों में स्नायु तंत्र से सम्बन्धित रोगों को प्रतिशत बढ़ा है। राष्ट्रीय पोषण संस्थान की एक रपट के अनुसार वे सभी बच्चे जिनका जन्म के समय वजन कम था, अधिकांश गरीब परिवारों से आते थे। एक तिहाई बच्चों की मौत जन्म के समय कम वजन के कारण ही होती है। इसी तरह कमजोरी के कारण बच्चों पर तपेदिक (टीबी) जैसे संक्रामक रोगों के बढ़ते प्रभाव को भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

शहरीकरण को विकास का सबसे केन्द्रीय मापदंड माना जाने लगा है, पर हमारे बड़े शहरों में 40 फीसदी से ज्यादा आबादी झुग्गी बस्तियों या अब उन एक छोटे से कोठरीनुमा कमरे में रहती है जिनका निर्माण शहरी नवीनीकरण योजना के तहत किया जा रहा है। इनमे अब भी आधी से ज्यादा बस्तियों के अवैध मान कर मौलिक सुविधाओं से वंचित किया जाता है, वहां न तो आंगनवाडी केन्द्रों का सही संचालन होता है, न

आधा पेट, पूरा जीवन, शोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!

ही पानी और स्वच्छता के साधन उपलब्ध कराये जाते हैं। इन बस्तियों के आधे से ज्यादा बच्चे कुपोषण के शिकार हैं और बीमार रहते हैं। इन्हीं परिस्थितियों में उन्हें पेट भरने के लिए पन्नी बीनने, निर्माण मजदूरी करने या फिर ढाबों-होटलों-घरों में काम करना पड़ता है।

गरीबी की बहस उसकी परिभाषा के विवाद से ही बाहर नहीं निकल पा रही है। यूं तो शिशु मृत्यु, जीवन की उम्र और शिक्षा को अब मानव विकास का सूचक माना जाने लगा है, परन्तु अब भी इन्हें गरीबी के सूचक के रूप में व्यावहारिक मान्यता नहीं मिली है। साढ़े चार करोड़ बच्चे श्रम करने में जुटे हुए हैं 9 करोड़ बच्चे कुपोषण के शिकार हैं, हर साल 14 लाख बच्चों की एक साल से कम उम्र और 25 लाख बच्चों की 5 साल से कम उम्र में मौत हो जाती है, 25 करोड़ महिलायें खून की कमी की शिकार हैं, पर फिर भी केवल सवा 8 करोड़ परिवार ही गरीबी की रेखा के नीचे माने जाते हैं, गरीबी को बच्चों के नज़रिए से क्यों नहीं मापा जाता है, यह एक बेकार सा सवाल है!! वर्ष 2007 में विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ और विश्व खाद्य कार्यक्रम ने गंभीर कुपोषण पर एक संयुक्त वक्तव्य जारी करते हुये कहा कि "गंभीर कुपोषण बच्चों की मृत्यु का प्रत्यक्ष कारण है और गंभीर कुपोषित बच्चों में मृत्यु जोखिम सामान्य बच्चों की तुलना में 5 से 20 गुना ज्यादा होता है।" इसी संदर्भ में विश्व में स्वास्थ्य के क्षेत्र में सबसे ख्यातनाम इंग्लैण्ड की शोध पत्रिका द लांसेट ने जनवरी 2008 में छह श्रृंखलाबद्ध शोध पत्रों को प्रकाशित करते हुये बताया कि *डायरिया के कारण एक स्वस्थ-पोषित बच्चे की मृत्यु की संभावना अगर 5 प्रतिशत होती है तो उसकी तुलना में एक गंभीर कुपोषित बच्चे की मृत्यु होने की संभावना 16.5 गुना ज्यादा होती है। इतना ही नहीं यदि किसी गंभीर कुपोषित बच्चे को निमोनिया हो जाये तो एक पोषित बच्चे की तुलना में वह साढ़े 10 गुना ज्यादा तेज गति से मृत्यु की दिशा में बढ़ रहा होता है। इसी तरह तमाम संक्रमणों और बीमारियों की स्थिति में इन बच्चों के मृत्यु की संभावना 18 गुना ज्यादा होती है।* पर फिर भी सरकारों के लिये कुपोषण गरीबी का सूचक नहीं है।

विश्व बैंक ने अपने एक दस्तावेज की शुरुआत एक सवाल से की है – क्या आप जानते हैं कि दुनिया की सबसे गंभीर स्वास्थ्य समस्या कुपोषण है? कुपोषण के कारण सबसे ज्यादा बच्चों की मौतें होती हैं। विश्व बैंक की पोषण विशेषज्ञ मीरा शेखर कहती हैं कि जिन 60 फीसदी बच्चों की मौतें मलेरिया, डायरिया, निमोनिया के कारण होती हैं, उन्हें बचाया जा सकता था, यदि वे कुपोषित नहीं होते तो!!

कुपोषण केवल शारीरिक मृत्यु का कारण नहीं बनता है, बल्कि इससे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी प्रभावित होती है। विकास की परिभाषा का मूल उद्देश्य समाज को एक समतामूलक बेहतर स्थिति प्रदान करना है। ऐसे में व्यापक सैद्धांतिक योजना बनाते समय सबसे पहले सरकार को यह स्वीकार करना होगा कि पोषण की कमी से एक व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक विकास बाधित होता है। भारत में 25-30 प्रतिशत बच्चों का जन्म के समय ही वजन ढाई किलो से कम होता है और यदि उन्हें जरूरी पोषण (स्तनपान से शुरू होकर) न मिलने के कारण उनकी दिमागीय संरचना का विकास नकारात्मक रूप से प्रभावित होता है। इसी कारण उसके सीखने (बचपन से) और समझने की ताकत नहीं बढ़ पाती है। ऐसे में जब हम इन बच्चों की शिक्षा की बात करते हैं तो वास्तव में पोषण की कमी के फलस्वरूप शिक्षा से विकास की सोच बेमानी हो जाती है। और जब शिक्षा की स्थिति का विश्लेषण होता है तब बीच में ही स्कूल छोड़ने की प्रवृत्ति के बारे में भांति-भांति के तर्क दिये जाते हैं। स्पष्ट रूप से पोषण की कमी से सीखने की क्षमता बहुत कम होती है जिससे बच्चे मुख्यधारा की शिक्षा व्यवस्था में टिक नहीं पाते हैं और जब वे शिक्षा व्यवस्था से बाहर हो जाते हैं तो उन्हें सीखने के अवसर भी नहीं मिलते हैं। जिससे उन्हें भविष्य में रोजगार और आजीविका की असुरक्षा का सामना करना पड़ता है। यह असुरक्षा उन्हें और ज्यादा गंभीर कुपोषण की दिशा में बढ़ाती है। एक तरह से यहीं से कुपोषण एक दुष्चक्र का रूप ले लेता है। और राज्य की प्रतिबद्धता का आलम यह है कि देश की कुल आबादी के 16 प्रतिशत हिस्से यानी 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए कुल जमा एक मात्र एकीकृत बाल विकास परियोजना नाम का कार्यक्रम चल रहा है और इन पर देश के बजट का एक प्रतिशत से भी कम हिस्सा खर्च किया जाता है। ज्यादातर जोर ऐसी

आधा पेट, पूरा जीवन, पोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!

व्यवस्था पर है जिसमें बीमार पड़ने या कुपोषित होने पर इलाज करने के नीति है, बच्चे बीमार न पड़ें और कुपोषित ना हों, यह सोच अभी भी नीति बनाने वालों की दृष्टि से बाहर है।

बच्चों की भुखमरी और कुपोषण के मौजूदा संदर्भ में हम एक चुनौतीपूर्ण स्थिति का सामना कर रहे हैं। एक ओर तो जीवन का संकट है दूसरी ओर बाजार और मुनाफाखोर कम्पनियां इस संकट में फायदा खोजने में जुटी हुई है। बार-बार यह स्थापित करने की कोशिश की जा रही है कि स्थानीय स्तर पर पैदा की गई खाद्य और पोषण सामग्री से बेहतर है बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की फैक्ट्री में पैदा किये गये आहार का लोकव्यापी वितरण करना। ये कम्पनियां चाहती हैं कि उत्पादन के प्राकृतिक संसाधन उनके नियंत्रण में आ जायें और फिर उनकी कम्पनियों के उत्पाद को सरकारें खरीदकर हर बच्चे-हर महिला को खिलायें यानी सार्वजनिक (सरकारी) धन से वे अपना हित साध सकें। दूसरे मायने में देश के नागरिकों द्वारा दिये जाने वाला "कर" इन बाजारू ताकतों के लिये "आर्थिक फायदा" बनकर उनके पूंजीवादी साम्राज्य को आगे बढ़ाने का साधन बन रहा है। हमें इस साजिश से भी जूझना होगा।

आज बहुत तेजी से समावेशीकरण यानी इन्क्लुसन की बात हो रही है। मानो इसी में जादू का कोई मंत्र छिपा हुआ है। इस सोच और रणनीति में भी किसी का समावेश किया जाएगा यानी उसकी एक बहिष्कृत की पहचान उभरेगी या बनी रहेगी और कोई समावेश करेगा यानी अब ताकतवर, जो बाहर धकेलता रहा, वही समावेशीकरण का इंचार्ज बन गया – स्वयं भू!! आज के समावेशीकरण में जो छिपाया जाता है वह है बीमारी या बहिष्कार के मूल कारण और जो उभरा जाता है वह है इलाज! यानी आज के नीति बनाने वालों और विद्वानों का तरीका है समस्या के कारणों को छिपा कर उसका इलाज करना! बच्चे इस समाज का स्वाभाविक हिस्सा हैं। उनकी विचार, व्यवहार, विकास और व्यवस्था में सामान से ज्यादा हिस्सेदारी है। उनकी जरूरतों को समझना, उनके मुताबिक व्यवहार करना और उन्हें पूरा करना, यही समाज की भूमिका और जिम्मेदारी है। संकट यह है कि अब थोड़ा-थोड़ा उन्हें सुनना तो शुरू किया है, पर इस मान्यता को और पुख्ता कर लिया है कि बच्चों को समझ नहीं होता है। इसलिए हम सुनते हैं, और उनकी बात सुनकर उन्हें ही अपनी यानी वयस्कों की सोच से सहमत कराने की कोशिश में जुट जाते हैं। अपनी बात मनवाने के लिए समाज उन पर दबाव डालता है (शिक्षा के ढांचे के जरिये), षडयंत्र रचता है (साम्प्रदायिकता का व्यवहार करना), और हिंसात्मक व्यवहार करता है (लिंगभेद और जातिभेद सिखाना)।

यदि भारत में कुपोषण के वास्तविक संकट का आंकलन किया जाये तो पता चलता है कि देश में हर साल पांच वर्ष से कम उम्र में होने वाली 24 लाख मौतों (मौजूदा बाल मृत्युदर 74 प्रति हजार जीवित जन्म पर) में से आधी यानी 12 लाख बच्चों की मौतों का केन्द्रीय कारण कुपोषण है; इन बच्चों को पहले भी मरने से बचाया जा सकता था और अब भी बचाया जा सकता है। इसके लिये हमें राजनैतिक, आर्थिक और भावनात्मक प्रतिबद्धता की जरूरत होगी। कुपोषण को केवल पोषण आहार से नहीं हराया जा सकता है, इसके लिये विकास की परिभाषा, विकास की नीतियां, व्यवहार और नजरिया भी बदलना होगा!!

आधा पेट, पूरा जीवन, शोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!

भूख बदल देती है
सिद्धान्त लम्बाई के, ऊंचाई के, गहराई के,
किसी भी पेड़ की जड़ों की गहराई से
गहरी जाती है भूख की जड़ें
कुछ और नहीं जो इतनी ऊंचाई पर जा सके
भूख उतनी ही पुरानी है जितना की जीवन,
यह पैदा हुई है न खत्म होने के लिये,
यही जिन्दगी को देती है एक मकसद
इसी से तय होते हैं जीवन के मूल्य
और राजनीति की दिशा भी,
कोई सागर इतना गहरा नहीं
कोई आसमान इतना ऊंचा नहीं,
थोड़ा भी रास्ता गलत होने पर
भूख खड़ी कर देती है चुनौती
भूख बढ़ती है जब तुम
पहाड़ों से निकालते हो संपदा
भूख बढ़ती है जब तुम
खेतों में लगाते हो चिमनियां,
भूख बढ़ती है जब तुम
हवा में घोलते हो लालच का जहर,
तुम्हारे विकास की रेखा लम्बवत बढ़ती होगी
पर भूख बढ़ती है दण्डवत और
लेती जाती है अपने आगोश में
सबसे कमजोर को सबसे पहले।

सचिन कुमार जैन
{बच्चों के भोजन के अधिकार पर कार्यसमूह के साथ}

आधा पेट, पूरा जीवन, शोषण का घना जाल, रातें खूब काली, धुंधला सबेरा,
भूख के नशे से झपकती आंखें जो भूल रही हैं सपने गढ़ना, किन आंकड़ों से मापोगे तुम उस बचपन को!!